

## विकास, विस्थापन और आदिवासी

संजय कृष्ण

**‘य**ह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज आदिवासी, जो कि संभवतया भारत के मूल निवासियों के वंशज हैं, अब देश की कुल आबादी के 8 प्रतिशत बचे हैं। वे एक तरफ गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी, बीमारियों और भूमिहीनता से ग्रस्त हैं। वहीं दूसरी तरफ भारत की बहुसंख्यक जनसंख्या जो कि विभिन्न अप्रवासी जातियों की वंशज है, उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करती है।’

—जस्टिस मार्कंडेय काटजू व ज्ञानसुधा मिश्र की खंडपीठ की टिप्पणी, 5 जनवरी, 2011

सुप्रीम कोर्ट की यह टिप्पणी हमारे लोकतंत्र पर भी एक टिप्पणी है, जहां एक बड़ी आबादी आज भी हाशिए पर जीने को विवश है। यह उस लोकतंत्र में, जहां की जड़ें बहुत पुरानी मानी जाती हैं। हम इस लोकतंत्र पर इतराते भी हैं। जब भी मौका आता है, हम इसकी दुहाई देने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं देते। एक बड़ी आबादी जो अब शायद दस करोड़ पहुंच गई है, क्यों बार-बार विकास की कीमत चुकाती है! क्यों बार-बार उसे उसकी जड़ों से, उसकी परंपराओं से, उसकी संस्कृति से उसे बेदखल कर दिया जाता है, विकास के नाम पर? सभ्य कहलाने वाली जातियां क्यों उनके साथ असभ्य और बर्बरता का व्यवहार करती हैं? क्या इसलिए कि वे अपने जंगल से प्रेम करते हैं, प्रकृति के साथ दोस्ताना रिश्ता रखते हैं, निजी के बजाय सामूहिकता में विश्वास करते हैं। हमने अपने लोकतंत्र में कई लोक बना रखे हैं, जहां सबके अपने-अपने लोक हैं और अपने-अपने तंत्र। हां, आदिवासी, दलित, उत्पीड़ितों का न कोई तंत्र है न लोक। कुछ ऐसा ही नजारा झारखंड का भी है।

झारखंड पर जब नजर डालते हैं तो शोषण का एक अंतहीन सिलसिला दिखाई पड़ता है। अंग्रेजों के समय से भी बहुत पहले से। तब उनके जंगलों पर लोगों की नजर थी, आज उनकी जमीनों के भीतर छिपे खनिजों पर है। औपनिवेशिक काल से लेकर आज तक वे अपनी आजीविका के लिए संघर्ष करते आ रहे हैं। इस आजीविका के लिए कितने ही अपनी माटी से दूर चले गए। अपनी जड़ों से सदा-सदा के लिए उखड़ गए। इसका कोई हिसाब नहीं है।

झारखंड में जहां ये बहुसंख्यक थे, आज अल्पसंख्यक हो गए हैं। जहां कभी चिराग जलते थे, अब वे बेचिरागी गांव बन गए हैं। यह सब अचानक नहीं, एक सोची-समझी राजनीति के तहत हुआ लगता है। उन्हें उनकी जड़ों से बेदखल करने के लिए कई तरह के हथकंडे अपनाए गए। लंबा संघर्ष भी चला। साहूकारों से लेकर अंग्रेजों तक। लड़ाई आज भी जारी है। आज विकास के नाम पर उनका विस्थापन हो रहा है। कहीं जबरन तो कहीं पैसे का लालच देकर उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। उदारिकरण ने औद्योगिकरण के दरवाजे

खोल दिए। इससे वे तो अंदर आ रहे हैं, लेकिन यहां के आदिवासी, दलित बाहर जा रहे हैं रोजी रोजगार की तलाश में। नई आर्थिक नीति ने तो मानो आदिवासियों को उजाड़ने का कानूनन अधिकार ही दे दिया है। इसने बाहरी उद्योगपतियों के लिए दरवाजे खोल दिए। झारखंड उनके लिए एक बड़ा चारागाह बन गया। सबका ध्यान यहां की खनिज संपदा में लग गया। नाम दिया विकास का। थोड़े अतीत में चलें और उसके परिणाम देख लें तो विकास की हकीकत समझ में आ जाएगी। बात आज से सौ साल पहले की है। 1908 में राज्य का पहला उद्योग स्थापित हुआ। बड़े-बड़े दावे किए गए आदिवासी और विस्थापितों की तकदीर बदल जाएगी। हर स्तर पर विकास किया जाएगा। कोई भूखा नहीं रहेगा। हर आदमी शिक्षित होगा। पर, सौ सालों की हकीकत कुछ और ही बयां करती है। आदिवासी सौ साल पहले जहां थे, आज भी वहीं हैं और टाटा? कहने की जरूरत नहीं। इस उद्योग ने कितना विकास किया, किसका विकास किया, यह जगजाहिर है। विकास के नाम आज भी आदिवासी अपनी जमीनों से बेदखल किए जा रहे हैं। झारखंड बनने के बाद भी स्थिति बदली नहीं, बदस्तूर जारी है। अलेक्स हेली ने अपने उपन्यास रूट्स में जड़ों से कटने के दर्द का काफी विस्तार से वर्णन किया है। इस उपन्यास के पात्रों को बदलकर झारखंड के पात्रों को रख दिया जाए तो कोई अंतर नहीं पड़ेगा। इसमें भी वही दर्द है, जिसे झारखंड के लाखों लोग सालों से झेल रहे हैं। इस दर्द को वही समझ सकता है, जिससे उसकी जमीन ले ली गई हो, विकास के नाम पर। आदिवासियों की पीड़ा को मारिया वार्गास ल्योसा के उपन्यास किस्सागो में भी पढ़ा जा सकता है, जिसमें अमेजन नदी के किनारे बसने वाली आदिवासियों की व्यथा-कथा है। दूसरे अफ्रीकी लेखक चीनुवा एचेबे हैं, जिनकी कई कृतियों में आदिवासी समाज की पीड़ा व्यक्त हुई है। आदिवासियों के लेकर हमारा नजरिया बहुत कुछ पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति टामस जैफर्सन जैसा रहा है। उसने कहीं लिखा है, काले लोग, चाहे वे मूल रूप में अलग नस्ल के हों अथवा समय और परिस्थितियों ने उन्हें अलग नस्ल का बनाया हो, शरीर और दिमाग दोनों मामलों में गोरों के मुकाबले काफी हीन हैं। यह मानसिकता अंग्रेजों साथ-साथ कमोबेश भारत के मैदानी इलाकों के कथित सभ्य लोगों की भी है। हम भी आदिवासियों के मामले में किसी नस्लवादी से कम नहीं हैं। इनके लिए तरह-तरह के शब्दों का ईजाद हमने किया है।

(3)

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी सोच ने औपनिवेशिक काल में, कांग्रेस की स्थापना के एक दशक बाद, भू-अर्जन के लिए 1894 में कानून बनाया। इसके माध्यम से झारखंड के किसानों की खूंटकटी एवं कोड़कर भूमि पर कब्जा कायम करना शुरू किया गया। इस भूमि लूट

का मूल मकसद था झारखंड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विस्तार करने के लिए भूमि अर्जित करना। इसी भूमि अधिग्रहण की आड़ में लाखों ग्रामीणों को भूमिहीन और साधनविहीन बनाकर भिखारी बना दिया गया। जैसे-जैसे अंग्रेजों का अत्याचार बढ़ता गया, कानून की आड़ में, आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया जाता रहा, जैसे-वैसे आदिवासियों ने उलगुलान किए। सबसे ताकतवर विद्रोह बिरसा का था। भू-अर्जन कानून बनने के एक साल बाद 1895 में यह उलगुलान प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व भी कोल विद्रोह, भूमिज विद्रोह, मुल्की विद्रोह हुए। सभी उलगुलान के केंद्र जल, जंगल, जमीन और स्वशासन की मांग थी। इनका नारा था- हमारा जमीन, जल एवं जंगल सिंगबोंगा की देन है। हमने अपना खून पसीना बहाकर जंगलझाड़ी काटकर भूमि योग्य खेत बनाया है। अतः हम जान देंगे, जमीन नहीं, कानून बनाने की प्रक्रिया संताल विद्रोह के बाद ही शुरू हो गई। जब-जब विद्रोह का लावा फूटा कानून के पानी से उसे शांत किया जाता रहा। पर, न अंग्रेजों की भूख कम हुई न आदिवासियों का विद्रोह शांत हुआ। ये दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती रहीं। दुर्भाग्य यह है ये आज भी साथ-साथ चल रही हैं। आजादी के बाद लगा अब शोषण करने वाले चले गए, लेकिन यह आदिवासियों के लिए छलावा ही साबित हुआ। उनकी जगह काले अंग्रेज बैठ गए। न्याय इन्हें नहीं मिला, कानून की धाराएं जरूर मिलती रहीं। इस शोषण चक्र का ही परिणाम था कि अलग राज्य की मांग उठने लगी। लगा कि जब तक झारखंड अलग नहीं होगा, झारखंड का विकास नहीं होगा। आदिवासी-मूलवासी इसी तरह उपेक्षित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से अलग राज्य की मांग ने आजादी के बाद धार पकड़ी। कई उतार-चढ़ाव के बाद आखिरकार राज्य अलग हुआ। अलग होने के बाद लगा विकास होगा, कोई विस्थापित नहीं होगा। लेकिन यहां की बार-बार बदलती सरकारें आदिवासियों की किस्मत नहीं बदल सकीं। वे आज भी वहीं हैं, जहां हजारों साल पहले।

(4)

आजादी के बाद संविधान सभा में आदिवासी इलाकों की खासियतों के कारण ही संविधान की पांचवीं व छठी अनुसूची का निर्माण हुआ। वहीं, आदिवासी इलाकों के विकास के लिए अलग रणनीति बनाने की भी बात कही गई थी। जवाहरलाल नेहरू भी मानते थे कि औद्योगीकरण के बुरे प्रभावों से आदिवासी संस्कृति का बचाव किया जाना चाहिए। उन्होंने वेरियर एल्विन और जयपाल सिंह मुंडा के साथ हुए विमर्शों के बाद आदिवासी इलाकों के विकास के लिए एक पंचशील की बात की थी। इस नीति के सूत्र थे : 1- आदिवासी इलाकों के लोगों को खुद ही विकसित होने दिया जाना चाहिए, हमें उनपर कुछ थोपने से बचना चाहिए, उनकी परंपरागत कला और संस्कृति को हर तरह से प्रोत्साहित

करना चाहिए। 2- जमीन और जंगलों पर आदिवासियों के अधिकारों को सम्मान देना चाहिए। 3- प्रशासन और विकास का कार्य करने के लिए उनके बीच से ही लोगों के कार्यदल को प्रशिक्षित करना चाहिए। 4- हमें इन इलाकों पर ज्यादा प्रशासन नहीं लादना चाहिए। न ही उन पर भारी भरकम योजनाओं का बोझ डालना चाहिए। वहां सहज तरीके से ही ऐसे कार्य करना चाहिए जिससे उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के साथ कोई प्रतिस्पर्धा पैदा न हो। 5- आदिवासी इलाकों में कितना धन खर्च हुआ और उसके क्या परिणाम निकले, इस मानक का त्याग कर गुणवत्ता और विकास के नए मानक तैयार करने चाहिए। यदि नेहरू के इस पंचशील सिद्धांत का ख्याल रखा गया होता, आदिवासी इलाकों का इस मानक पर विकास किया गया होता, प्रकृति के साथ उनके रिश्ते और संस्कृति को समझा गया होता तो आज आदिवासी अस्मिता भी बची रहती और जो विद्रोह के लावे फूटते रहे हैं, नक्सली संगठनों के जो पांव पसर रहे हैं, यह सब कदापि न होता। राज्य के 24 में से 22 जिलों में नक्सलियों का प्रभाव है। नक्सलियों को खत्म करने के नाम पर केंद्र सरकार अरबों रुपये पानी की तरह बहा रही है। फिर भी उसका ध्यान मूल मुद्दों पर नहीं है। वह अब जंगलों से आदिवासियों को खदेड़ने का अभियान चला रही है ताकि जंगलों को कारपोरेट घरानों को सौंप सके। आदिवासी इसका विरोध कर रहे हैं। विरोध करना जायज है। जिन कंपनियों की स्थापना पिछले सौ सालों में हुई है, और कंपनियों की स्थापना के क्रम में जिनकी जमीनें अधिग्रहीत की गईं, उनसे जो वादे किए गए, वे आज तक पूरे नहीं हुए। यही कारण है कि अब आदिवासी अपनी जमीन नहीं देना चाहते। जिनकी जमीनें गईं, वे आज मजदूर हो गए। जिनकी जमीनों से आज काला हीरा निकल रहा है, वे अब कोयला चोर कहलाने लगे हैं। कितनी पीड़ाजनक है कि कोई किसान अपने ही जमीन से बेदखल हो जाए और अपनी जमीन से पापी पेट के लिए थोड़ा कोयला निकाल ले तो कोयला चोर। आखिर, किसान से कोयला चोर किसने बनाया? कानून ने या सरकार ने?

(5)

विकास क्या उद्योगों से ही सकता है? क्या उद्योगों से सबको रोजगार संभव है? झारखंड में जितने लोगों की जमीन ली गई, क्या उन्हें उन कंपनियों ने नौकरी दी, जिसकी जमीन उन्होंने ली थी? उत्तर ना होगा। कंपनियों को सबको रोजगार देना संभव नहीं है। सौ साल पहले जब तकनीक उतनी उन्नत नहीं थी, तब तो उसने सबको रोजगार दिए नहीं, जहां मानव श्रम की ज्यादा जरूरत होती थी, आज तो तकनीक ने मानव श्रम को घटा दिया है। फिर कैसे कंपनियां, किस आधार पर लोगों को रोजगार देने और विकास की बात कर रही हैं? विकास के

रहनुमा और राज्य की सरकार भी अच्छी तरह जानती है कि राज्य की लगभग 85 प्रतिशत आबादी खेती और जंगलों पर निर्भर है। आदिवासियों में यह निर्भरता और भी ज्यादा है यानी 92.33 प्रतिशत है। इस पर राज्य में न सिंचाई की कोई व्यवस्था है न बिजली की। पलामू में पिछले चालीस साल से डैम बन रहे हैं, आज तक पूरे नहीं हुए। तब उनकी लागत पचास करोड़ थी और अब हजार करोड़ पहुंच गई है। डैम बनाने के चक्कर में लोगों को चालीस साल पहले ही विस्थापित कर दिया गया, लोग कहां गए, क्या कर रहे हैं, सरकार का इससे कोई वास्ता नहीं। लेकिन ठेकेदारों और इंजीनियरों की चांदी कट रही है। क्योंकि हर साल उसकी लागत बढ़ जाती है। यह एक बानगी है। इस तरह की कई योजनाएं पूरी नहीं हो पाईं लेकिन लोग विस्थापित हो गए। थोड़ा आंकड़े पर बात करें तो बिजली और सिंचाई सुविधा प्रदान करने के लिए 50000 हेक्टेअर जमीन बांधों व जलाशयों के लिए कुर्बान हो चुकी हैं। लेकिन कुल कृषि क्षेत्र का केवल नौ प्रतिशत भाग ही सिंचित है। इसके अलावा खनन एक और कारण है, जिससे लोगों की जमीनें छिन रही हैं। विकास परियोजनाओं के लिए अधिग्रहीत जमीन में से 34.4 प्रतिशत खनन के लिए अधिग्रहीत हुईं। अभी सरकार ने करीब सौ एमओयू किए हैं। सभी को धरातल पर उतार दिया जाए तो झारखंड से जंगल गायब हो जाएंगे, खेती की जमीन नहीं बचेगी। लोग कहां जाएंगे, क्या करेंगे, इसकी चिंता सरकार को नहीं। दिलचस्प है कि सरकारें कैसे बड़ी पूंजीपतियों के हितों के लिए काम करती रही हैं, इसका पहला उदाहरण टाटा कंपनी है, जहां आज अरबों के उसके साम्राज्य को वारिस की खोज की जा रही है। जरा उसके अतीत पर नजर डालें।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, झारखंड में औद्योगीकरण की शुरुआत औपनिवेशिक काल में ही हो गई थी। 1907 में जमशेदजी टाटा ने काली माटी क्षेत्रों में अपनी फैक्ट्री की नींव रखी। इसके लिए 3564 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया। इस फैक्ट्री ने हजारों परिवारों को विस्थापित किया। कंपनी की स्थापना के लिए छोटानागपुर टेंनेसी एक्ट को चार साल तक ठंडे बस्ते में रखा गया ताकि टाटा को जमीन अधिग्रहण में ज्यादा कानूनी दांवपेंच का सामना न करना पड़े। क्योंकि एक्ट के प्रभावी हो जाने से टाटा को जमीन लेने में काफी दिक्कतें आतीं। इस अधिनियम के तहत आदिवासी जमीन गैरआदिवासियों को हस्तांतरित नहीं की जा सकती। सामाजिक कार्यकर्ता घनश्याम पूछते हैं, क्या यह सवाल पूछना बेमानी होगा कि टाटा रेलवे स्टेशन और उसके बगल में स्थित टाटा इस्पात कारखाना, जहां पहले कालीमाटी गांव था, वह गांव और उसके निवासी अब कहां गए? क्या इसकी जानकारी सरकार के पास है? यह बात हम मान सकते हैं कि अंग्रेजों ने अपने

मुनाफे के लिए उस जमीन को टाटा को लीज पर दिया था, लेकिन आजादी के बाद भी हमारी सरकार ने उस गांव की खोज-खबर क्यों नहीं ली?

यह किस्सा सिर्फ कालीमाटी गांव का नहीं है। बोकारो के साथ भी यही हुआ। एचइसी के साथ यही हुआ। एचइसी के विस्थापित आज भी लड़ रहे हैं। बोकारो स्टील संयंत्र की स्थापना में भी हजारों एकड़ जमीन गईं। विस्थापितों को नाममात्र का मुआवजा दिया गया। बोकारो में जब स्टील प्लांट बनना तय हुआ तो दामोदर नदी के उत्तर में एक जमीन के बड़े हिस्से को चिह्नित कर इसे खाली कराने का काम शुरू हुआ। लगभग 60 गांव पूरी तरह और कुछ गांवों के कुछ हिस्से को सरकार ने जमीन अधिग्रहण कानून का इस्तेमाल करके अपने कब्जे में ले लिया।

सरकारी दरों पर जमीन का मुआवजा दिया गया जो जमीन के बाजार भाव से बेहद कम थे। स्टील प्लांट में बड़ी संख्या में काम करने वालों की जरूरत थी। हर तरह के पदों पर लोग रखे जाने थे। लेकिन सरकार ने यह तय किया कि सिर्फ चौथी श्रेणी के पदों पर हर विस्थापित परिवार से एक आदमी को नौकरी दी जाएगी। इसके अलावा हर परिवार को रहने के लिए जमीन का एक टुकड़ा दिया जाएगा। 1960 के दशक में बुलडोजर चलाकर गांवों को समतल कर दिया गया और लोग अपना सामान बैलगाड़ियों पर लाद कर दूसरा ठौर ढूंढ लिए। गांवों में घर, बाग, चारागाह, कुलदेवता के स्थान, श्मशान सभी कुछ थे। पर सब कुछ समतल हो गया था। विस्थापितों के साथ चुभने वाली बात यह हुई कि उनसे जमीन लेते समय कहा गया कि इस जमीन पर प्लांट बनेगा और वहां काम करने वालों के लिए कालोनियां बनाई जाएंगी। लेकिन विस्थापितों ने देखा कि स्टील प्लांट प्रबंधन ने प्रापर्टी डीलर की भूमिका अपना ली है। पहले तो एक को-आपरेटिव कालोनी बनाकर लगभग 500 प्लाट लीज पर दे दिए गए। इन 500 लोगों को प्लाट देते समय विस्थापितों को किसी तरह की वरीयता नहीं दी गई। ...हद तो तब हो गई जब स्टील प्रबंधन ने मजदूरों के लिए बनाई गई कालोनियों के फ्लैट लीज पर देना शुरू कर दिया। इस तरह हजारों की संख्या में फ्लैट दे दिए गए। बाद में मामला अदालत में पहुंचा तो फ्लैट देने का सिलसिला तो रुका, लेकिन जिन्हें फ्लैट दिए जा चुके थे, उनसे वापस नहीं लिए गए। (दिलीप मंडल-एक विस्थापित का अविश्वास पत्र)

(6)

न्याय की आस में डिमना झील के विस्थापित आज भी भटक रहे हैं। डिमना बांध का निर्माण आजादी से पहले 1942-43 में किया था, जिसमें 12 गांवों के लोगों को विस्थापित किया गया। यह किसी और ने नहीं, टाटा कंपनी ने किया। मदन मोहन ने लिखा है टाटा कंपनी

ने गैर कानूनी तरीके से 102 एकड़ जमीन भी अपने कब्जे में ले लिया है। जब सरकारी अधिकारी और टिस्को अधिकारी के समक्ष डिमना झील का सीमांकन किया गया तो पता चला कि टाटा कंपनी ने 102 एकड़ जमीन गैरकानूनी तरीके से कब्जा कर रखा है। बरसात के समय डिमना झील के पानी से 5.84 एकड़ की फसल नष्ट हो जाती है। डिमना झील के विस्थापित आज भी उचित मुआवजे की मांग कर रहे हैं। जब-तब आंदोलन भी होते रहते हैं। धरना-प्रदर्शन विस्थापित करते हैं, लेकिन न्याय उन्हें आज तक नहीं मिला। झारखंड मुक्ति वाहिनी विस्थापितों की लड़ाई लड़ रहा है। इस तरह न जाने कितने विस्थापित आज भी भटक रहे हैं। पलामू का मंडल डैम चालीस साल से बन रहा है। हर साल उसकी लागत बढ़ जाती है। 14 गांव के लोगों को चालीस साल पहले ही विस्थापित कर दिया गया। वे आज भी भटक रहे हैं। न ठीक से उन्हें मुआवजा दिया गया न उन्हें पुनर्वासित किया गया। इनमें आदिवासी और दलित ज्यादा थे। पी साईनाथ ने एक बार इस डैम का दौरा किया था और रिपोर्ट लिखी थी। पलामू में इस तरह की कई अन्य योजनाएं सिंचाई के लिए चल रही हैं, जो आज तक पूरी नहीं हुईं। लागत हर साल बढ़ती जाती है। अब तो इनके बनने की संभावना भी क्षीण हो चुकी है, क्योंकि आस-पास के इलाके में माओवादी सक्रिय हैं। टेकेदारों के लिए भी चांदी है कि माओवादी काम नहीं करने देते, लेकिन सरकारी मशीनरी से कोई पूछने वाला नहीं कि साठ-सत्तर करोड़ की परियोजना एक एक हजार करोड़ में कैसे पहुंच गई, इसके लिए कौन जिम्मेदार है?

पलामू में ही कनहर परियोजना 36 साल से लटकी है। परियोजना निर्माण के लिए राज्य के पूर्व मंत्री हमेंद्र प्रताप देहाती ने हाईकोर्ट में जनहित याचिका दायर कर जल्द निर्माण किए जाने की मांग की है। परियोजना के निर्माण के बाद यह अपने लक्ष्य को प्राप्त करेगी, यह संशय ही है। क्योंकि जो परियोजनाएं बनीं, जो वादे किए गए थे, वे पूरे नहीं हुए। आजादी के बाद बनी डीवीसी परियोजना के मात्रा दो बांधों से 93,874 लोग विस्थापित हुए। इसमें अगर तिलैया, कोनार, मसानजोर को जोड़ दिया जाए तो विस्थापितों की संख्या एक लाख सत्तर हजार के आस-पास पहुंच जाती है। इन परियोजनाओं में विस्थापित होने वालों में तीन चौथाई आदिवासी थे।

(झारखंड विकास पर विमर्श-घनश्याम)

भरत डोंगरा कहते हैं, हाल के समय में विस्थापन की समस्या ने विकराल रूप ले लिया है। विस्थापन की समस्या पहले भी मौजूद थी परन्तु भूमंडलीकरण के दौर में पिछले दस-पंद्रह वर्ष के दौरान यह तेजी से बढ़ी है। पहले कम से कम ऊपरी तौर पर यह कहा जाता था कि सरकार किसी सार्वजनिक हित के लिए भूमि का अधिग्रहण कर रही

है। परंतु अब तो वह खुलेआम निजी क्षेत्रों के बड़े पूंजीपतियों व बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए भूमि अधिग्रहण करने हेतु मात्र बेहद सक्रिय ही नहीं बल्कि आक्रामक भूमिका निभा रही है। ऐसा लगता है जैसे विश्व पूंजीवाद को पनपाने के लिए बाक्सइट, लौह अयस्क व और भी न जाने कितने खनिजों या उत्पादों की आपूर्ति के लिए सरकारें बड़े पैमाने पर किसानों, आदिवासियों व अन्य गांववासियों को उजाड़ने के लिए तैयार बैठी हैं। इस मामले में सभी मुख्य राजनीतिक दल जैसे एक हो गए हैं। कलिंगनगर से लेकर नंदीग्राम की बेहद त्रासद घटनाएं बताती हैं कि इस विस्थापन हेतु सरकारें क्रूर हिंसा करने के लिए भी तैयार हैं।

अर्थशास्त्री गिरीश मिश्र ने झारखंड को लेकर लिखा है, खनिज पदार्थों की वहां विविधता और प्रचुरता है। उपजाऊ जमीन और पानी विपुल मात्रा में है तथा लोग मेहनती हैं। फिर भी विडम्बना है कि वह देश के निर्धनतम राज्यों में आता है। 2 करोड़ 88 लाख 46 हजार की जनसंख्या में लगभग 30 प्रतिशत आदिवासी हैं। 2 करोड़ 23 लाख 10 हजार लोग गांवों तथा मात्र 65 लाख 36 हजार शहरों में रहते हैं। कहना न होगा कि अधिकतर आदिवासी, दलित तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग गांवों में ही रहते हैं। शहरों में अधिकांशतः उच्च और मध्यम वर्ग के लोग बसे हैं जो वाणिज्य-व्यापार, उद्योग, शिक्षा तथा सेवाओं के अन्य क्षेत्रों में कार्यरत हैं। झारखंड के ऊपर ग्रहण ब्रिटिश शासन के दौरान ही लग गया जब बाहरी शक्तिसम्पन्न लोगों ने उसके प्राकृतिक संसाधनों को हड़पना शुरू कर दिया। यह आज भी जारी है और भी विकराल रूप में। अब अपने ही इसे लूट रहे हैं, बेच रहे हैं। इन दो उदाहरणों से झारखंड की स्थिति को समझा जा सकता है।

एक रिपोर्ट में 65 लाख विस्थापितों की बात कही गई है। इस आंकड़े पर गौर करें तो माइंस को ले 25.50 लाख, बड़ी सिंचाई परियोजनाओं में 16.40 लाख, फैक्टरी में 12.50 लाख, अभयारण्य को ले 11 लाख अब तक विस्थापित हो चुके हैं। सन 1960 से कुछ महत्वपूर्ण कंपनियों के लिए जो जमीन ली गई, वह इस प्रकार है-एचइसी के लिए 7,711 एकड़, बोकारो स्टील के लिए 34,227 एकड़, दामोदर वैली प्रोजेक्ट के लिए 28,837 एकड़, आदित्यपुर इंडस्ट्रीज के लिए 34,432 एकड़ जमीनें ली गईं। वर्तमान में राज्य सरकार ने एक सौ से उपर एमओयू पर साइन किया है। इन उद्योगों के लिए एक लाख एकड़ से अधिक जमीन चाहिए। इससे कितने लोग विस्थापित होंगे, कितने जंगल कटेंगे, कितना पक्षियों और जानवरों का रहवास छिनेगा, राज्य के वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका कोई आकलन राज्य सरकार ने अभी तक नहीं किया है। उसे केवल विकास नजर आ रहा है। कैसा विकास, किसका विकास... यह बताने की जरूरत वह नहीं समझती।

(7)

एक समय झारखंड में आदिवासियों की आबादी 70 प्रतिशत थी। पर, धीरे-धीरे इनकी जनसंख्या कम होती गई। शशिभूषण कड़वार व अलेक्स एक्का ने लिखा है, 1901 से 1951 तक आदिवासी जनसंख्या क्रमशः 59.35 प्रतिशत से 60.48 प्रतिशत तथा 68.60 प्रतिशत से 48.18 प्रतिशत बनी रही। पूरा छोटानागपुर में इस अवधि में आदिवासी जनसंख्या क्रमशः 34.84 प्रतिशत, 31.14 प्रतिशत रह गई। देश की आजादी के बाद तो झारखंड में गैर आदिवासियों की संख्या बाढ़ की तरह हो गई और आज बढ़कर 72.33 प्रतिशत हो गई है। आदिवासियों की जनसंख्या में गिरावट के तीन कारण रहे हैं। पहला, अप्रवास, औद्योगीकरण और शहरीकरण। बाहर से लोग आकर राज्य में बसते गए, औद्योगीकरण ने भी महती भूमिका निभाई। बड़े-बड़े उद्योग लगे, डैम बने तो बाहर आकर लोग रोजगार-नौकरी करने लगे। शहरीकरण ने भी लोगों को रोजगार मुहैया कराया। इस तरह बाहर से आकर लोग राज्य में बसते गए। एक ओर रोजगार के लिए बाहरी लोग झारखंड में आए तो आदिवासी रोजगार की तलाश में बाहर जाने लगे। कुछ का जाना मौसमी थी, कुछ दूसरी जगहों पर जाकर बस गए। कुछ जबरिया भी ले जाए गए। असम के चाय बागानों में सैकड़ों साल पहले अंग्रेज ने जबरन झारखंड के लोगों को काम करने के लिए ले गए। कुछ विस्थापन का शिकार होकर अपने वतन से दूर चले गए। इस तरह ये अपने ही घर में अल्पसंख्यक होते चले गए। एक और बड़ी वजह है जनगणना। जनगणना में इनके लिए कोई कॉलम नहीं है। देश की संप्रभु सरकार इनकी उपस्थिति को ही नकारती है। इसको लेकर राज्य में काफ़ी आंदोलन हुए, हो रहे हैं। ये अलग से चिह्नित करने की मांग कर रहे हैं। डॉ. रामदयाल मुंडा कहते हैं, भारतीय संविधान ने आदिवासियों को एक विशिष्ट समुदाय के रूप में मान्यता दी है और उनकी सुरक्षा और विकास के लिए कई प्रावधान किए हैं किंतु धर्म के मामले में उसने यह स्वतंत्रता दे रखी है कि जो जिस धर्म का अनुसरण करना चाहे, करे। व्यवहार में जैसा कि जनगणना के आंकड़ों में पता चलता है, आदिवासी की अपनी धार्मिक पहचान नहीं के बराबर है। गणना प्रणाली में अब तक अन्य धर्मों-हिंदू, मुस्लिम-सिख, ईसाई इत्यादि की तरह अपनी धार्मिक पहचान दर्ज करने के लिए कोई निश्चित जगह न पाकर आदिवासियों को 'अन्य' के ही अंतर्गत गिनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। (आदि धर्म का प्राक्कथन डॉ. रामदयाल मुंडा-रतन सिंह मानकी) इस तरह आदिवासियों की लगातार घटती जनसंख्या के पीछे भी कई पेंच, राजनीति और साजिश दिखाई पड़ती है। ये केवल, विकास और विस्थापन के मारे हुए नहीं हैं, इनको मिटाने में एक गहरी साजिश भी दिखाई देती है। क्योंकि जहां-जहां ये हैं, उनकी

धरती के नीचे सोना है। इस पर नजर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की है। दुर्भाग्य से यही वह इलाका है, जिसे लाल गलियारा कहा जा रहा है और जिसके लिए ग्रीन हंट आपरेशन चलाया जा रहा है। आदिवासियों के सामने इधर कुआं-उधर खाई की स्थिति पैदा हो गई है। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के बाद यह सिलसिला थमता नजर नहीं आ रहा। नागार्जुन ने आजादी के आस-पास सितंबर 1947 में एक कविता लिखी थी, उद्बोधन, जो युगधारा में संकलित है। वे उसी समय भांप गए थे और आदिवासियों को जागरूक करते हुए कहा, उठो, उठो।

पंक्तियों पर गौर करें-

झारखंड सतपुड़ा सदृश तव स्कंध!  
रत्नाकर हो अगर तुम्हारा नाम  
सागर को क्या कुछ होगी आपत्ति?  
अबरख और कोयला और पेट्रूऊअेल  
हीरा और जवाहर (मणिमाणिक्य)  
सोना चांदी लोहा औ' इस्पात...  
अंदर दबी पड़ी हैं सौ-सौ खान  
उठो, उठो, उठ जाओ विन्ध्य महान!  
मांग रहा युग तुमसे जीवनदान!

• • •

कविता की अंतिम पंक्तियां हैं-  
भील, गोंड, हो, मुंडा औ' संधाल  
अब भी तो विकसित हों तेरे बाल  
देखो तुमसे मांग रहे द्युति दान  
निर्विकल्प निश्चल सौ-सौ दिनमान  
उठो, उठो, उठ जाओ विन्ध्य महान !

• • •

इस कविता के साथ अरुंधती रॉय के उस लेख के कुछ अंश भी देख लें, शायद स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। रॉय आउटलुक में मिस्टर चिदंबरम वार लेख में लिखती हैं, 'झारखंड और उड़ीसा आदि की पहाड़ियों में जितनी बाक्साइट भरी पड़ी है, उसकी कीमत आंकी जाए तो उसमें 12 शून्य आता है। वह पूछती हैं, इसके क्या मायने हैं? कहती हैं, झारखंड में पिछले दिनों मधु कोड़ा की अवैध 4,500 करोड़ की संपत्ति का मामला काफी गरमाया था। झारखंड खनिजों का भंडार है।



वहां भी आदिवासी हैं। वहां भी सरकार 'विकास' कर रही है और माओवादी तो वहां हैं ही। जाहिर है, जो पैसे मधु कोड़ा एंड कंपनी ने कमाए, वे खनिज और कोयले से ही आए हैं। कंपनियों की जहां तक बात है, आर्सेलर मित्तल-जिंदल से लेकर कौन है, जो झारखंड में मौजूद नहीं यानी, खनिज, आदिवासी, माओवाद, धन, विकास, जंगल, जमीन, निजी पूंजी, आंतरिक सुरक्षा- ये तमाम शब्द दरअसल एक ही संदर्भ से ताल्लुक रखते हैं, जो एक ही किस्म के भौगोलिक परिक्षेत्रों पर लागू होते हैं।'

अब ऐसे विकास के क्या मायने हैं, और कंपनियां यहां उद्योग लगाने को आतुर क्यों हैं, यह समझने के लिए बहुत दिमाग पर जोर डालने की जरूरत नहीं है। उनके इस विकास से वास्तव में विकास किसका होगा, यह भी अबूझ नहीं है। इसलिए, यदि आदिवासी आज जमीन नहीं देने की बात कर रहे हैं तो वे गलत नहीं हैं। शायद वे अपनी पुरानी गलती को दुरस्त कर रहे हैं।

□□

दैनिक जागरण कोकर,  
रांची, झारखंड  
मो. नं. 9835710937